प्राचीन जैनग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त का विकासक्रम

- डॉ. अशोक कुमार सिंह*

भारतीय चिन्तन में कर्मसिद्धान्त का अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत की सभी दार्शनिक परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त का विवेचन उपलब्ध होता है। जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त का जो सुव्यवस्थित एवं सुविकसित रूप प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्रमण परम्परा के विश्रुत विद्वान् पद्मभूषण पं. दलसुख भाई मालवणिया का यह कथन अत्यन्त प्रासंगिक है -- "कर्मवाद की जैसी विस्तृत व्यवस्था जैनों में दृष्टिगोचर होती है वैसी विस्तृत व्यवस्था अन्यत्र दुर्लभ है।[1] कर्मसिद्धान्त का विकास वस्तुतः विश्व-वैचित्र्य के कारणों की खोज में ही हुआ है। विश्व-वैचित्र्य के कारणों की विवेचना के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद्[2] में काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पुरुषार्थ आदि का उल्लेख हुआ है। किन्तु विचारकों को विश्व-वैचित्र्य की व्याख्या करने वाले ये सभी सिद्धान्त सन्तोष प्रदान नहीं कर सके। प्रारम्भिक जैन ग्रन्थों में (सूत्रकृतांग) भी विश्व-वैचित्र्य के कारणता सम्बन्धी इन विभिन्न सिद्धान्तों की समीक्षा की गई और इन सिद्धान्तों की निहित अक्षमता को ध्यान में रखते हुए श्रमण परम्परा में कर्मसिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। इस सिद्धान्त में सर्वप्रथम यह माना गया कि वैयक्तिक विभिन्नताओं, व्यक्ति की सुख-दुःखात्मक अनुभूति और सदसद् प्रवृत्तियों में उसकी स्वाभाविक रुचि के कारण व्यक्ति के अपने ही पूर्वकर्म होते हैं। यह मान्यता निर्ग्रन्थ, बौद्ध और आजीविक परम्परा में समान रूप से स्वीकृत रही। न्याय-वैशेषिक जैसे प्राचीन दर्शनों ने भी ईश्वर-कर्तृत्व की अवधारणा को स्वीकार करते हुए भी वैयक्तिक विभिन्नता के कारण की व्याख्या के रूप में ईश्वर के स्थान पर अदृष्ट या कर्म को ही प्रधानता दी है। फिर भी यह सुनिश्चित है कि श्रमण परम्पराओं में कर्मसिद्धान्त को जो प्रधानता मिली वह ईश्वरवादी परम्पराओं में सम्भव नहीं थी क्योंकि वे कर्म के ऊपर ईश्वर की सत्ता को स्थापित कर रही थीं।

प्राचीन भारत की श्रमण परम्पराओं में आजीविक परम्परा विलुप्त हो चुकी है और उसका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है अतः उसमें कर्मसिद्धान्त किस रूप में था यह कह पाना कठिन है। बौद्धों ने यद्यपि जगत्-वैचित्र्य की व्याख्या के रूप में व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मों को ही कारण माना है फिर भी उनकी दृष्टि में कर्म चित्त-सन्तति का ही परिणाम रहा। अतः उन्होंने कर्म को चैतसिक ही माना जबकि निर्ग्रन्थ परम्परा ने कर्म के चैतसिक और भौतिक दोनों ही पक्षों को स्वीकार कर एक सुव्यवस्थित कर्मसिद्धान्त की विवेचना प्रस्तुत की।

प्रस्तुत निबन्ध में हमारा विवेच्य जैन कर्म सिद्धान्त की व्याख्या न होकर मात्र इतना ही है कि जैन परम्परा में यह सिद्धान्त क्रमिक रूप में किस प्रकार विकसित हुआ। डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र ने अपनी पुस्तक "जैन कर्मसिद्धान्त उद्‌भव एवं विकास"[3] में काल-क्रम की दृष्टि से जैन कर्मसिद्धान्त के विकास-क्रम को तीन वर्गों में विभाजित कर प्रत्येक वर्ग की मुख्य विशेषताओं को रेखांकित किया है। उनके अनुसार ये तीन क्रम निम्नवत् हैं --

1. जैन कर्म सिद्धान्त का प्रारम्भिक काल या उद्‌भव काल (ई.पू. छठीं शताब्दी से ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी।)

2. जैन कर्म सिद्धान्त का व्यवस्थापन काल -- ई.पू. दूसरी शती से ईसा की तीसरी शताब्दी।

3. जैन कर्म सिद्धान्त का विकास काल -- ई. की चौथी शती से बारहवीं शती।

डॉ. मिश्र के अनुसार प्रारम्भिक काल या उद्‌भव काल तक यह अवधारणा बन चुकी थी -- 1. कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है। 2. कर्म संचित होते हैं, दूसरे शब्दों में वे कालान्तर में फल देने की सामर्थ्य रखते हैं। कर्म या कर्म बन्ध का कारण राग-द्वेष, कषाय और मोह है। 3. संचित कर्मों के कारण पुनर्जन्म होता है। 4. इन संचित कर्मों से अर्थात् संसार-परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तात्पर्य यह कि प्रारम्भिक काल में यद्यपि कर्म सिद्धान्त की सभी मूलभूत बातें अपने अस्तित्व में आ चुकी थीं फिर भी इन प्राचीनतम ग्रन्थों में सुव्यवस्थित रूप से जैन कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। न तो इनमें कर्मप्रकृतियों की चर्चा है। न कर्म और गुणस्थानों के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा है और न कर्मों की उदय, उदीरणा आदि विभिन्न अवस्थाओं का ही चर्चा है।

2. कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थापन काल

डॉ. मिश्र के शब्दों में इस काल में कर्म-सिद्धान्त के सम्बन्ध में निम्न बातों का प्रवेश हुआ -- 1. कर्म की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का वर्गीकरण, 2. कर्म की मूल एवं उनकी प्रकृतियों के बन्धन के अलग-अलग कारणों का विवेचन 3. बन्धन के 5 हेतुओं का विवेचन और उनका प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध एवं प्रदेशबन्ध से सम्बन्ध और कर्म की उदय, उदीरणा आदि दस अवस्थाओं का उल्लेख, विभिन्न. कर्म प्रकृतियों की न्यूनतम और अधिकतम सत्ता की कालावधि तथा कर्मप्रकृतियों के अलग-अलग फल-विपाक की चर्चा।

3. जैन कर्मसिद्धान्त का विकास काल

ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक व्याप्त इस काल की प्रमुख विशेषतायें निम्नवत् हैं -- 1. कर्म सिद्धान्त पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना, 2. कर्मसिद्धान्त का अन्य जैन दार्शनिक अवधारणाओं जैसे गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, लेश्या आदि से सम्बन्ध, 3. कर्मप्रकृतियों का गुणस्थान और मार्गणास्थान में उदय, उदीरणा आदि की दृष्टि से विस्तृत विवेचन, 4. जैन कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में उत्पन्न दार्शनिक समस्याओं का समाधान और 5. जैन कर्मसिद्धान्त को गणितीय स्वरूप प्रदान किया जाना।

यद्यपि जैन परम्परागत रूप में आगमों को और विशेष रूप से अंग-आगमों को अर्थ के रूप में महावीर की और शब्द के रूप में गणधरों की रचना मानते हैं किन्तु विद्वत्समुदाय अनेक कारणों से सभी आगमों यहाँ तक कि सभी अंग आगमों को भी एक काल की रचना नहीं मानता। अर्धमागधी आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध माना गया है। विद्वान इसे लगभग ई. पू. चतुर्थ शताब्दी की रचना मानते हैं। इसके समकालीन अथवा किंचित परवर्ती ग्रन्थों में सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन का क्रम आता है। ये तीनों ग्रन्थ ई. पू. लगभग तीसरी शताब्दी की रचना के रूप में मान्य हैं।

यह माना जाता है कि पार्श्वापत्य परम्परा के आगमों में जिन्हें हम पूर्वों के रूप में जानते हैं "कर्मप्राभृत" नामक एक ग्रन्थ था जिससे 'कर्मप्रकृति' आदि कर्म साहित्य के स्वतन्त्र ग्रन्थों का विकास हुआ। किन्तु कर्मसिद्धान्त के ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में ई. सन् की 5वीं शताब्दी के बाद के ही माने गये हैं। चूंकि हमारा उद्देश्य कर्मसिद्धान्त के ऐतिहासिक विकासक्रम को देखना है अतः इन ग्रन्थों को विवेचना का आधार न बनाकर अर्धमागधी आगम के कुछ प्राचीन ग्रन्थों को ही अपनी विवेचना का आधार बनायेंगे। इस दृष्टि से हमने आचारांग, सूत्रकृतांग ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, स्थानांग और समवायांग में निहित कर्म-सिद्धान्त के तत्त्वों पर विचार किया है --

आचारांग की कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी अवधारणायें

सामान्यतया कर्मशब्द का अर्थ प्राणी की शारीरिक अथवा चैतसिक क्रिया माना गया है। किन्तु कर्मसिद्धान्त की व्याख्या में इस शारीरिक क्रिया या मानसिक क्रिया के कारण की और उसके परिणाम की व्याख्या को प्रमुखता दी गयी अतः कर्म के तीन अंग बने --

1. क्रिया का प्रेरक तत्त्व, 2. क्रिया, 3. क्रिया का परिणाम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहाँ बौद्ध परम्परा ने क्रिया के प्रेरक तत्त्व के रूप में चैतसिक वृत्तियों को ही व्याख्यायित किया वहाँ जैन परम्परा ने क्रिया के मूल में रही हुई चैतसिक वृत्ति के साथ-साथ उसके परिणाम पर भी विचार किया। इस प्रकार कर्म की अवधारणा को एक व्यापकता प्रदान की। किसी क्रिया के मूल में रहे हुए चैतसिक भावधारा को पारिभाषिक दृष्टि से भावकर्म की संज्ञा दी गई। किन्तु कोई भी क्रिया चाहे वह चैतसिक हो या दैहिक अपने परिवेश में एक हलचल अवश्य उत्पन्न करती है। इसी आधार पर यह माना गया कि इन क्रियाओं के परिणाम स्वरूप कर्मद्रव्य आकर्षित होता है और आत्मा को बन्धन में डाल देता है। जैन परम्परा में किसी क्रिया-विशेष के द्वारा जिस पौद्गलिक द्रव्य का आत्मा की ओर संसरण होता है उसे द्रव्य कर्म कहा जाता है। आचारांग में द्रव्यकर्म और भावकर्म जैसे सुस्पष्ट शब्द का प्रयोग हमें नहीं मिलता किन्तु कर्म के चैतसिक पक्ष के साथ-साथ हमें कर्मशरीर[4] और कर्मरज[5] जैसी अवधारणायें स्पष्ट रूप से मिलती हैं। वस्तुतः यही कर्मशरीर और कर्मरज द्रव्यकर्म की अवधारणा के आधार बने हैं। आचारांग स्पष्ट रूप से कर्मरज और उसके आस्रव की बात करता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह कर्म के भौतिक पक्ष या द्रव्यपक्ष को स्वीकार करता है। अतः हम कह सकते हैं कि द्रव्यकर्म और भावकर्म की स्पष्ट अवधारणा भले ही नहीं रही हो उनके बीज के रूप में कर्मरज और कर्मशरीर की अवधारणायें उपलब्ध थीं।

आचारांग में अन्यत्र 'जो गुण है वही आवर्त है' और 'जो आवर्त है वही गुण है'[6] यह कहकर सांसारिकता के कारण के रूप में गुणों की चर्चा की गई है और यहाँ आचारांगकार का गुणों से तात्पर्य प्रकृति के तीन गुणों से ही रहा हुआ है। ये गुण प्राचीन सांख्य दर्शन में भौतिक तत्त्व के रूप में स्वीकृत हैं और उनकी प्रकृति से एकात्मकता प्रतिपादित की गई है। अतः इससे भी यही फलित होता है कि आचारांगकार के समक्ष कर्म का पौद्गलिक पक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित था चाहे उस काल तक द्रव्य कर्म और भाव कर्म जैसी पारिभाषिक शब्दावली का विकास न हुआ हो।

कर्म को संसार-परिभ्रमण या बन्धन का कारण मानना यह सिद्धान्त भी आचारांग के काल तक स्पष्ट रूप से अस्तित्व में आ चुका था। आचारांगकार[7] स्पष्ट रूप से यह कहता है कि जो आत्मा की पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है और कर्मवादी है। इस प्रकार आचारांग की दृष्टि में पुनर्जन्म की अवधारणा के स्पष्ट तीन फलित हैं-- आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद। पुनः कर्मवाद भी आत्मा और संसार की सत्ता को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है अतः कर्मवाद के लिए आत्मा और संसार का अस्तित्व अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में आचारांग के काल में कर्मवाद, पुनर्जन्म की अवधारणा के साथ संयोजित कर लिया गया था।

आचारांग की एक विशेषता यह भी परिलक्षित होती है कि वह कर्म को हिंसा या आरम्भ के साथ संयोजित करता है। उसकी दृष्टि में कर्म या क्रियायें हिंसा के साथ जुड़ी हुई हैं और वे संसार के परिभ्रमण का कारण हैं। इसीलिए उसमें यह कहा गया है[8] कि जो क्रिया (आरम्भ) के स्वरूप को नहीं जानता है वह संसार की विविध जीवयोनियों में परिभ्रमण करता है किन्तु जो कर्म या हिंसा के स्वरूप को जान लेता है वह परिज्ञात कर्मा मुनि सांसारिक जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठता है। इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य है कि कर्म या क्रिया बन्धन का कारण है। कर्म या क्रिया से आस्रव होता है और वह आस्रव बन्धन का कारण बनता है। इसीलिए आचारांगकार[9] स्पष्ट रूप से यह कहता है कि जो भी सांसारिक विविधतायें हैं वे कर्म से उत्पन्न होती हैं। आचारांग में अष्टकर्म प्रकृतियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। कर्म की शुभाशुभता के आधार को लेकर भी आचारांग में स्पष्ट रूप से कोई विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं होता किन्तु आचारांगकार कर्म और अकर्म तथा पापकर्म और पुण्य की चर्चा अवश्य करता है। आचारांग में अकम्मस्स[10], निक्कमदंसी[11], शब्दों का प्रयोग यह बताता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांगकार के समक्ष यह अवधारणा स्पष्ट रूप से आ गयी थी कि सभी कर्म बन्धक नहीं होते हैं। पुण्य (शुभ) और पाप (अशुभ) कर्म के साथ-साथ अकर्म की यह अवधारणा हमें गीता में भी उपलब्ध होती है।

चाहे आचारांग में कर्म प्रकृतियों की चर्चा न हो परन्तु कर्म-शरीर की चर्चा है -- 'धुणे कम्मसरीरगं'[12] कहकर दो तथ्यों की ओर संकेत किया गया है -- एक तो यह कि कर्म से या कर्मवर्गणा के पुद्गलों से शरीर की रचना होती है। उस शरीर को तप आदि के माध्यम से धुनना सम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारांग में कर्म की पौद्गलिकता, कर्मपुद्गलों का आस्रव और उसका आत्मा के लिए बन्धन-कारक होना -- ये अवधारणायें स्पष्ट रूप से अस्तित्व में आ गयी थीं। इसके साथ ही कर्म से विमुक्ति के लिए संवर और निर्जरा की अवधारणाएँ स्पष्ट रूप से उपस्थित थीं। दूसरे शब्दों में आचारांग में कर्म, कर्मबन्ध, कर्म-आस्रव, कर्म-निर्जरा ये शब्द प्राप्त होते हैं।

कर्मबन्ध के कारण के रूप में आचारांग में मोह, हिंसा[13] और राग-द्वेष की चर्चा भी उपलब्ध होती है। उसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मोह के कारण ही प्राणी गर्भ और मरण को प्राप्त होता है।[14] जो कर्म मोह और राग-द्वेष से निःसृत नहीं हैं वे कर्म भी यदि हिंसा या परपीड़ा के साथ जुड़े हुए हैं तो भी उनसे बन्ध होता ही है।[15] आचारांग में कहा गया है कि गुण समितिवान अप्रमादी मुनि के शरीर का संस्पर्श पाकर भी कुछ प्राणी परिताप प्राप्त करते हैं। मुनि के इस प्रकार के कर्म द्वारा उसे इस जन्म में वेदन करने योग्य कर्म का बन्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि आचारांगकार की दृष्टि में राग-द्वेष और प्रमाद की अनुपस्थिति में भी यदि हिंसा की घटना घटित होती है तो उससे कर्म बन्ध तो होता ही है। इसका तात्पर्य यह है कि आचारांग में ईर्यापथिक कर्म की जो अवधारणा विकसित हुई है उसके भी मूलबीज उपस्थित हैं। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बन्धन के मिथ्यात्व आदि पाँच कारणों की चर्चा, अष्टकर्म प्रकृतियों की चर्चा, कर्म की दस अवस्थाओं की चर्चा आचारांग के काल तक अनुपस्थित रही होगी।

आचारांग में कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उपलब्ध होता है कि एक ओर आचारांगकार किसी के निमित्त से होने वाली हिंसा की घटना से ही अप्रमत्त मुनि को इस जन्म में वेदनीय कर्म का बन्ध मानता है किन्तु वह दूसरी ओर इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है कि बाह्य घटनाओं का अधिक मूल्य नहीं है। वह स्पष्ट रूप से यह कहता है कि 'जो आस्रव हैं वे ही परिश्रव हैं'[16], अर्थात् कर्म-निर्जरा के रूप में परिणत हो जाते हैं जो परिश्रव अर्थात् कर्मनिर्जरा के हेतु हैं वही आस्रव के हेतु बन जाते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि कौन सा कर्म आस्रव के रूप में और कौन सा कर्म परिश्रव के रूप में रूपान्तरित होगा इसका आधार कर्म का बाह्य पक्ष न होकर कर्त्ता की मनोवृत्ति ही होगी।

इस प्रकार आचारांग कर्मबन्ध और कर्म-निर्जरा में घटना के बाह्य स्वरूप के स्थान पर कर्त्ता के मनोभावों को प्रधानता देता है।

सूत्रकृतांग की कर्म सम्बन्धी अवधारणा :

आचारांग की अपेक्षा सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को विद्वानों ने किंचित परवर्ती माना है। कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि आचारांग की अपेक्षा सूत्रकृतांग में कर्म सम्बन्धी अवधारणाओं का क्रमिक विकास हुआ है। वह कहता है कि प्राणी इस संसार में अपने-अपने स्वकृत कर्मों के फल का भोग किये बिना उनसे मुक्त नहीं हो सकता है।[16a] इस सन्दर्भ में सूत्रकृतांगकार की यह स्पष्ट मान्यता है कि जो व्यक्ति पूर्व में जैसे कर्म करता है उसी के अनुसार वह बाद में फल प्राप्त करता है।[17] व्यक्ति का जैसा कर्म होगा वैसा ही उसे फल प्राप्त होगा। सूत्रकृतांग में स्पष्ट रूप से इस बात का भी प्रतिपादन है कि व्यक्ति अपने ही किये कर्मों का फल भोगता है।[18] व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण उसके स्वकृत कर्म हैं अन्य व्यक्ति या परकृत कर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं।[19]

कर्मबन्ध के कारणों की चर्चा के रूप में सूत्रकृतांग में हमें दो महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं। सूत्रकृतांग के प्रारम्भ में तो परिग्रह या आसक्ति को ही हिंसा या दुष्कर्म का एकमात्र कारण माना गया है।[20] आगे चलकर प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक[21] में यह कहकर कि अन्तःकरण में व्याप्त लोभ, समस्त प्रकार की माया, अहंकार के विविध रूप और क्रोध का परित्याग करके ही जीव कर्मबन्धन से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, सूत्रकृतांग में चारों कषायों को भी कर्मबन्धन के कारण के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। बन्धन के कारणों की इस चर्चा में सूत्रकृतांग में प्रकारान्तर से प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान और मैथुन से अविरति को भी कर्मबन्धन का कारण माना है।[22] इस प्रकार चाहे स्पष्ट रूप से नहीं परन्तु प्रकारान्तर से उसमें मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय को योग के साथ बन्धन का कारण मान लिया गया है। अतः बन्धन के जिन पाँच कारणों की चर्चा परवर्ती साहित्य में उपलब्ध है उसका मूलबीज सूत्रकृतांग में उपलब्ध है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि कषायों की यह चर्चा 'जे कोहं दंस्सि से माणं दस्सि' आदि के रूप में आचारांग में आ गयी है। सूत्रकृतांग की विशेषता यह है कि वह इन कारणों से कर्मबन्धन को स्वीकार करता है।[23]

कर्मसिद्धान्त के सन्दर्भ में सूत्रकृतांग इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि व्यक्ति स्वकृत कर्मों के फल का ही भोक्ता होता है। वह न तो अपने कर्मों का विपाक दूसरों को दे सकता है न दूसरों के कर्मों का विपाक स्वयं प्राप्त कर सकता है।

कर्म के द्रव्य और भावपक्ष की इन नामों से चर्चा इसमें नहीं मिलती है किन्तु 'कर्मरज'[24] और कर्म का त्वचा के रूप में त्याग जैसे उल्लेखों से स्पष्ट रूप से हमें लगता है कि उसमें कर्म के द्रव्य पक्ष की स्वीकृति रही हुई है। पुनः 'प्रमाद कर्म' है और 'अप्रमाद अकर्म' है यह कहकर[25] सूत्रकार ने कर्म के भावपक्ष को भी स्पष्टतः स्वीकार कर लिया है। कर्म के पुण्य-पाप, कर्म और अकर्म[26], ऐसे तीन पक्षों की चर्चा भी सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। जहाँ तक कर्मप्रकृतियों की चर्चा का प्रश्न है सूत्रकृतांग में मात्र दर्शनावरण[27] का उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा लगता है कि सूत्रकृतांग में कर्मप्रकृतियों की चर्चा के मूलबीज धीरे-धीरे प्रकट हो रहे थे। कर्म के ईर्यापथिक[28] और साम्परायिक[29] इन दो रूपों की चर्चा का प्रश्न अकर्म और कर्म से जुड़ा हुआ है किन्तु इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हमें सर्वप्रथम सूत्रकृतांग में मिलता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में साम्परायिक और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में तेरह क्रियास्थानों की चर्चा के सन्दर्भ में ईर्यापथिक का उल्लेख आया है।[29a]

कर्म की दस अवस्थाओं में से हमें उदय[30], उदीरणा[31] और कर्मक्षय[32] की चर्चा मिलती है। कर्मनिर्जरा के सम्बन्ध में उल्लेख है कि तप के द्वारा कर्मक्षय सम्भव है और सम्पूर्ण कर्म का क्षय हो जाने पर परम सिद्धि प्राप्त होती है।[33] इसप्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा कर्मसिद्धान्त का क्रमिक विकास हुआ है।

ऋषिभाषित की कर्मसम्बन्धी अवधारणायें :

कर्मसिद्धान्त के इस क्रमिक विकास की चर्चा में हम यह देखते हैं कि आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा ऋषिभाषित में कर्मसिद्धान्त पर्याप्त रूप से विकसित अवस्था में मिलता है। कर्म, अकर्म[34] की चर्चा के साथ-साथ शुभाशुभ कर्म की चर्चा[35] तथा शुभाशुभ कर्मों से अतिक्रमण[36] की चर्चा ऋषिभाषित में ही सर्वप्रथम मिलती है। ऋषिभाषित ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें स्वर्ण और लोह-बेड़ी की उपमा देकर[37] पुण्य-पाप कर्म से अतिक्रमण की चर्चा है। सर्वप्रथम अष्टकर्म ग्रन्थि[38] की चर्चा करने वाला भी यही ग्रन्थ है। ऋषिभाषित में कर्म के 5 आदान या कारण[39] स्पष्ट रूप से उल्लिखित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें यद्यपि कर्म की दस अवस्थाओं की चर्चा नहीं है फिर भी सोपादान, निरादान, विपाकयुक्त उपक्रमित और अनुदित कर्मों का विवरण उपलब्ध होता है।[40] साथ ही उपक्रमित, उत्करित, बद्ध, स्पष्ट और निधत्त कर्मों के संक्षेप एवं क्षय होने एवं निकाचित कर्मों के अवश्य ही भोगने का उल्लेख है।[41]

ऋषिभाषित इस बात पर स्पष्ट रूप से बल देता है कि कोई व्यक्ति अपने स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का ही फल भोगता है।[42]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषिभाषित के काल तक जैन कर्मसिद्धान्त पर्याप्त रूप से विकसित अवस्था को प्राप्त हो जाता है। भले ही इसमें अष्टकर्म प्रकृतियों के अलग-अलग नामों का उल्लेख न हो किन्तु अष्टकर्म ग्रन्थि का उल्लेख होने से यह माना जा सकता है कि कर्मों की अष्टमूल प्रकृतियों की चर्चा उस युग तक आ चुकी थी। यदि हम कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता हे कि ऋषिभाषित आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा पर्याप्त रूप से विकसित ग्रन्थ है। किन्तु कुछ विद्वानों ने इसे आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का समकालीन माना है। इस सन्दर्भ में एक विकल्प यह माना जा सकता है कि ऋषिभाषित मुख्य रूप से पार्श्वापत्य परम्परा का ग्रन्थ रहा हो और पार्श्वापत्य परम्परा में कर्मसिद्धान्त की विकसित चर्चा भी उपलब्ध हुई है क्योंकि इस ग्रन्थ में कर्मसिद्धान्त का जो विकसित रूप मिलता है वह मुख्यरूप से इसके 'पार्श्व' नामक अध्ययन में उपलब्ध होता है। साथ ही कर्मसिद्धान्त के चैतसिक पक्ष और कर्मसन्तति की जो विशेष चर्चा उस ग्रन्थ में पायी जाती है, वह भी मुख्य रूप से महाकश्यप, सारिपुत्र, वज्जिपुत्र आदि बौद्ध ऋषियों के उपदेशों के रूप में ही है। इसलिए यह सम्भावना पूरी तरह से असत्य नहीं हो सकती कि पार्श्वापत्य परम्परा में महावीर की अपेक्षा एक विकसित कर्मसिद्धान्त उपलब्ध था।

उत्तराध्ययन की कर्मसम्बन्धी अवधारणा :

अंग आगम साहित्य में आचारांग के पश्चात् स्थानांग, समवायांग और भगवती सूत्र ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें कर्मसिद्धान्त का विकसित रूप उपलब्ध होता है। किन्तु विद्वानों के अनुसार इन तीनों ग्रन्थों में परवर्तीकाल की सामग्री को अन्तिम वाचना के समय संकलित कर लिया गया। इसलिए कर्मसिद्धान्त के विकास की दृष्टि से इन ग्रन्थों की चर्चा न कर उत्तराध्ययन में उपलब्ध कर्म सम्बन्धी विवरणों की चर्चा करना चाहेंगें। उत्तराध्ययन सूत्र में 33वें अध्ययन को छोड़कर अन्य अध्ययनों में जो कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी चर्चायें मिलती हैं वे आचारांग और सूत्रकृतांग की अपेक्षा किंचित विकसित प्रतीत होती हैं। किन्तु उनमें उन्हीं सब तथ्यों की चर्चा है जो सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। कर्म कर्त्ता का अनुसरण करता है।[43] सभी जीवों को अपने कर्म के अनुसार फल भोगना पड़ता है।[44] कामभोगों की लालसा के कारण कर्मपरमाणुओं का आत्मा के साथ-बन्ध होता है किन्तु जो रागादि भावों से रहित होता है वह बन्ध में नहीं आता है।[45] कर्म अपने शुभाशुभ अध्यवसायों एवं विपाकों के अनुसार पुण्य और पाप रूप होता है।[46] ये चर्चायें ऐसी हैं जो प्रकारान्तर से आचारांग और सूत्रकृतांग में भी उपलब्ध हैं। उत्तराध्ययन में कर्म को कर्म-ग्रन्थि, कर्मकंचुक, कर्मरज, कर्मगुरु, कर्मवन आदि कहने के जो उल्लेख उपलब्ध हैं[47] वे सब भी हमारे समक्ष नवीन तथ्य प्रस्तुत नहीं करते हैं। उत्तराध्ययन का मात्र 33वाँ अध्याय ऐसा है जिसमें आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित की अपेक्षा कर्मसिद्धान्त के विकसित रूप मिलते हैं। इस अध्याय की प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है फिर भी यह अध्याय ई.पू. का ही माना जाता है। ऋषिभाषित में जो अष्टकर्मग्रन्थि का उल्लेख आया है,[48] इसकी भी विस्तृत व्याख्या उत्तराध्ययन में उपलब्ध है। आगम साहित्य में अष्टमूल प्रकृतियों और उनके अवान्तर भेदों की चर्चा करने वाला यह प्रथम ग्रन्थ है। सम्भवतः उत्तराध्ययन में ही सर्वप्रथम अष्टकर्म प्रकृतियों को घाती और अघाती कर्म में वर्गीकृत किया गया है।[48a] इसमें ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की 9, वेदनीय की दो, मोहनीय की 28, आयुष्य की चार, नाम कर्म की दो, गोत्र की दो और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तराय कर्म की पाँच उत्तरकर्म प्रकृतियों का उल्लेख है।[49] उत्तर कर्मप्रकृतियों के विवरण[50] की विशेषता यह है कि दर्शनावरणीय की उत्तर प्रकृतियों के क्रम में आज की दृष्टि से अन्तर है। वेदनीय की साता-असाता में से दोनों के अनेक भेद बतायें गये हैं। मोहनीय कर्म के दर्शन एवं चारित्र मोहनीय दो भेदों में चारित्र मोहनीय के उपभेद नोकषाय मोहनीय के सात या 9 भेद बताये गये हैं। नाम कर्म के पहले शुभ और अशुभ भेद किये गये फिर इन दोनों के अनेक भेदों की सूचना दी गई। गोत्र कर्म के दोनों भेदों उच्च और नीच के आठ-आठ भेद बताये गये हैं।

इसमें मूल प्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों का वर्णन करने के पश्चात् प्रदेशों का परिमाण, उनका क्षेत्र, काल और भाव का निरूपण है।

इसमें कर्म की मूलप्रकृतियों की अधिकतम और न्यूनतम स्थिति की चर्चा है। इन कर्मप्रकृतियों की कालावधि के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा यह है कि वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त[51] की बतायी गयी है वहाँ अन्यत्र 12 अन्तर्मुहूर्त बतायी गयी है।

आत्मा के द्वारा कर्मपुद्गलों के ग्रहण करने और उनकी संख्या का विवरण भगवती में विस्तार से मिलता है यहाँ केवल एक ही गाथा में[52] इसका वर्णन है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तराध्ययन में 33वें अध्ययन में यद्यपि कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थित विवरण है फिर भी परवर्ती साहित्य में और भी विस्तृत विवेचना की गई है। उदाहरण के लिए इसमें नामकर्म की दो शुभ और अशुभ कर्म की दो ही उत्तरप्रकृतियों का उल्लेख है जबकि आगे चलकर इसके 42, 67, 93 एवं 103 भेदों की चर्चा मिलती है।

इससे स्पष्ट है कि उत्तराध्ययन के पश्चात् भी जैन कर्मसिद्धान्त का विकास होता गया।

स्थानांगसूत्र

आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित एवं उत्तराध्ययन की तुलना में स्थानांग में कर्म-सिद्धान्त का विकसित रूप प्राप्त होता है। स्थानांग के आरम्भ में उल्लेख है कि इस जीवन या अगले जीवन में कर्मों का फल अवश्य मिलता है। स्थानांग में देवताओं, नारकों, मनुष्यों आदि के कर्मफल के उपभोग के काल का निर्धारण करते हुए वर्तमान भव एवं अन्य भव में होने वाले कर्मफल विपाक[53] की चर्चा है। इसमें कर्म की अवान्तर प्रकृतियों से सम्बन्धित विवरण दो प्रकार के मिलते हैं। इसके द्वितीय स्थान के चतुर्थ उद्देश[54] में आठों मूलप्रकृतियों का दो-दो अवान्तर प्रकृतियों में ही वर्गीकरण है-- देश एवं सर्व, ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय की, साता और असाता वेदनीय कर्म की एवं दर्शन और चारित्र, मोहनीय कर्म की। आयुष्य कर्म अद्धायुष्य (कायस्थिति की आयु) और भवायुष्य (उसी भव की आयु), नाम कर्म-शुभ और अशुभ, गोत्र कर्म- उच्च और नीच तथा अन्तराय कर्म -- प्रत्युत्पन्न विनाशि[55] एवं पिहित-आगमिपथ दो प्रकार का बताया गया है। स्थानांग में ही अन्यत्र इससे भिन्न ज्ञानावरणीय के 5[56], दर्शनावरणीय के 9[57] एवं नोकषाय वेदनीय के 9[58] भेदों का उल्लेख है। प्रसंगवश वेदनीय कर्म की दो अन्य अवान्तर प्रकृतियों क्षुधा वेदनीय[59] और लोभ वेदनीय कर्म[60] का भी उल्लेख मिलता है।

स्थानांग का उत्तर कर्म प्रकृतियों का वर्गीकरण यह इंगित करता है कि वर्तमान पद्धति से भिन्न एक अन्य परम्परा भी उत्तर प्रकृतियों के वर्गीकरण की विद्यमान थी। उस वर्गीकरण में सरलीकरण दिखलाई पड़ता है। जैसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के देश अर्थात् अशतः और सर्व ऐसे दो भेद थे। इसी प्रकार आयुष्य कर्म की भी वर्तमान जन्म की आयु और भविष्य में होने वाले जन्म की आयु के विचार की दृष्टि से दो ही भेद किये जाते थे तथा अन्तराय कर्म का भी विभाजन वर्तमान में प्राप्त वस्तु का विनाश और भविष्य में होने वाले लाभ के मार्ग में बाधा-- ये दो भेद थे। उल्लेखनीय है कि कर्म प्रकृति के द्विविध वर्गीकरण में से मात्र वेदनीय की साता और असाता तथा गोत्र कर्म की उच्च और नीच ही प्रचलित परम्परा में व्यवस्थित हैं। शेष की संख्या में परिवर्तन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है।

आगमों के ग्रन्थबद्ध होने के पूर्व मूलप्रकृतियों के इस प्रकार वर्गीकरण के पीछे सम्भवतः स्मरण सुविधा की दृष्टि मुख्य रही होगी।

अवान्तर प्रकृतियों का जो उल्लेख स्थानांग के अलग-अलग स्थानों में प्राप्त होता है उसमें ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की 9, वेदनीय की दो और गोत्रकर्म की दो अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख प्रचलित परम्परा के ही अनुरूप है, परन्तु उसमें नोकषाय वेदनीय कर्म के जो 9 भेद बताये गये हैं वे परम्परागत वर्गीकरण में नोकषाय मोहनीय कर्म के 9 भेद माने जाते हैं न कि नोकषाय वेदनीय कर्म के। यद्यपि इनके नाम आदि में समरूपता है किन्तु इन्हें नोकषाय वेदनीय कर्म क्यों कहा गया है यह विचारणीय है। स्थानांग में दस की संख्या वाले तथ्यों का ही संकलन करने के कारण मोहनीय कर्म की 28 और नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उल्लेख स्थानांग में न होना स्वाभाविक प्रतीत होता है परन्तु अन्तराय कर्म की 5 अवान्तर प्रकृतियों का उल्लेख न होना विचारणीय है। यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि उत्तराध्ययन[61] के 33वें अध्ययन में अन्तराय की दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये 5 अवान्तर प्रकृतियाँ नाम सहित निर्दिष्ट हैं इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्तराध्ययन का यह अध्ययन स्थानांग का उत्तरवर्ती है और साथ ही उत्तर प्रकृतियों की संख्या में क्रमिक विकास हुआ है।

कर्म के प्रदेश और अनुभाव दो प्रकार बताये गये हैं।[62] हिंसा आदि दुष्टकर्मों को दुश्चीर्ण कर्म (दुच्चिण्ण), तप आदि कर्मों को सुचीर्ण (सुचिण्ण)[63] कहा गया है। यद्यपि इनका सैद्धान्तिक दृष्टि से विशेष महत्व नहीं है क्योंकि इनका अर्थ क्रमशः दुष्टकर्म या पापकर्म और पुण्यकर्म है और कर्मों के पुण्य और पाप होने की अवधारणा आचारांग में आ चुकी थी। स्थानांग में कर्म के शुभत्व अशुभत्व[64] पर भी सम्यक् विचार किया गया है। इसे प्रकृति और बन्ध के चार भंगों के माध्यम से व्यक्त किया गया है -- 1. शुभ और शुभ 2. शुभ और अशुभ 3. अशुभ और शुभ 4. अशुभ और अशुभ। भंगों में प्रयुक्त प्रथमपद प्रकृति और द्वितीय पद अनुबन्ध के लिए है। इसी प्रकार प्रकृति और विपाक की दृष्टि से चार भंगों में कर्म का शुभत्व और अशुभत्व बताया गया है।[65] क्रिया स्थानों के सम्बन्ध में कर्म के ईर्यापथिक और सम्परायिक कर्म का भी उल्लेख एक साथ आया है।[66] यद्यपि सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ईर्यापथिक और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में साम्परायिक कर्म की चर्चा है परन्तु सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध, प्रथम श्रुतस्कन्ध से बाद का माना जाता है। अतः यदि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को स्थानांग से परवर्ती माना जाय तो स्थानांग का यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

स्थानांग में कर्मबन्ध के चार प्रकारों प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का[67] तथा बन्ध के दो प्रकारों प्रेय और द्वेष बन्ध का उल्लेख है।[68] चारकषाय[70] और प्रमाद का अलग-अलग निर्देश होने के साथ-साथ आस्रव के 5 कारणों के रूप में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का एक साथ भी निर्देश कर दिया गया है।[71] परन्तु इससे पूर्ववर्ती ऋषिभाषित में इन पाँच कारणों का उल्लेख प्राप्त होता है अतः कर्म सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से इसमें उल्लेख होना विशेष महत्वपूर्ण नहीं है।

इसमें किन-किन कारणों से मनुष्य अल्पायुष्यकर्म, दीर्घ-आयुष्यकर्म का बन्ध करता है इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।[72] यही नहीं स्थानांग में नारक, तिर्यंच मनुष्य और देवायु बाँधने के कारणों पर भी विचार किया गया है[73] जो कर्म-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नैरयिक जीवों से लेकर वैमानिक तक के सभी दण्डकों के जीवों के छः प्रकार का आयुबन्ध बताया गया है।[74] परभविक आयुर्बन्ध के प्रसंग में नैरयिक से लेकर वैमानिक तक के सभी जीवों के भुज्यमान आयु के छः मास के अवशिष्ट रहने पर नारकीय जीव नियम से परभव की आयु का बन्ध करते हैं[75] यह उल्लेख है। स्थानांग की यह अवधारणा दिगम्बर मान्यता के विपरीत है कि असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच वर्तमान भव की आयु के नौ माह शेष रहने पर परभव की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आयु का बन्ध करते हैं।[76]

जीवों को सदा प्रतिक्षण मोहनीय कर्म का बन्धन होने का उल्लेख है।[77] मोहनीय[78] कर्म के उदय से उन्माद[79] और प्रमाद होने तथा मैथुन संज्ञा उत्पन्न होने का निर्देश है।[80] लोभ वेदनीय कर्म के उदय से परिग्रह संज्ञा होने का उल्लेख है।[81]

स्थानांग में कर्म की अवस्थाओं में उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदना और निर्जरा का उल्लेख है।[82] एक स्थल पर जीवों द्वारा आठ कर्म प्रकृतियों का संचय, उपचय, बन्ध, उदीरणा, वेदन और निर्जरण का उल्लेख है। सूत्रकृतांग में चर्चित उदय, बन्ध की अपेक्षा कर्म की अवस्थाओं की दृष्टि से अतिरिक्त सूचना भी मिलती है। परन्तु स्थानांग सहित पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों में कर्म की दसों अवस्थाओं का अभाव यह इंगित करता है कि इनका विकास क्रमशः हुआ है और स्थानांग के काल तक दसों अवस्थाओं की अवधारणा नहीं बनी थी।

स्थानांग में कर्म-प्रकृतियों के वेदन और क्षय का आध्यात्मिक दृष्टि से भी विचार किया गया है। यद्यपि इस दृष्टि से कुछ बिखरे हुए सूत्र ही प्राप्त होते हैं-- क्षीणमोह वाले अर्हन्त के तीन सत्कर्म एक साथ नष्ट होते हैं -- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय।[83] प्रथम समयवर्ती केवली जिन के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह और आन्तरायिक ये चार कर्म क्षीण हो चुके होते हैं।[84] प्रथम समयवर्ती सिद्ध के चार सत्कर्म एक साथ क्षीण होते हैं -- वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र।[85]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म की अवान्तर प्रकृतियों के पूर्ण व्यवस्थापन से पूर्व की स्थिति का ज्ञान स्थानांग से होता है। इसमें कर्मबन्ध और उनके कारणों आदि के सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। कर्म की अवस्थाओं के सम्बन्ध में भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा विकास परिलक्षित होता है। साथ ही आयुष्य कर्म के सम्बन्ध में परभव की आयु बाँधने का नियत समय भी उल्लिखित है।

समवायांग

यह सामान्य अवधारणा है कि समवायांग एक संग्रह ग्रन्थ है। इसे ग्रन्थ-बद्ध करते समय उस काल पर्यन्त विद्यमान जैन धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक अवधारणाओं को इसमें संग्रहीत कर लिया गया है। इसमें कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी उल्लेखों का अवलोकन करने से भी इसी अवधारणा की पुष्टि होती है। समवायांग में कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते हैं। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। उत्तर प्रकृतियों की संख्या, विभिन्न कर्मों की उत्तर प्रकृतियों की संख्या का अलग-अलग योग, कर्मबन्ध के कारण, मोहनीय कर्म के बन्ध के 30 कारण, मोहनीय कर्म के 52 नाम और विभिन्न आध्यात्मिक जीवों की दृष्टि से अवान्तर कर्म प्रकृतियों की सत्ता और बन्ध का निर्देश। उपरोक्त तथ्यों के अतिरिक्त भी जैन कर्म सिद्धान्त के यत्र-तत्र कुछ बिखरे हुए सूत्र मिलते हैं जिनका विवेचन आगे किया जा रहा है।

समवायांग के आरम्भ में बन्धन के दो प्रकारों -- राग और द्वेष का[86], 5 कारणों मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का उल्लेख है जिसकी चर्चा ऋषिभाषित और स्थानांग में आ चुकी है। दर्शनावरणीय की 9 और मोहनीय कर्म की 28 अवान्तर प्रकृतियों, नाम कर्म की 42 अवान्तर प्रकृतियों का नाम निर्देश इसमें मिलता है। सम्भवतः समवायांग में अन्तिम दो के नाम पहली बार निर्दिष्ट हैं। जहाँ तक दर्शनावरणीय कर्म की अवान्तर प्रकृतियों का नाम-निर्देश पूर्वक उल्लेख का सम्बन्ध है इससे पूर्व उत्तराध्ययन और स्थानांग में ये आ चुकी हैं। नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों की संख्या की दृष्टि से समवायांग के ग्रन्थ-बद्ध होने के बाद भी इसका विकास होता रहा क्योंकि आगे चलकर नाम कर्म की अवान्तर प्रकृतियों की संख्या क्रमशः 67, 93 और 103 तक प्राप्त होती है। मोहनीय कर्म के 52 नामों[87] का भी उल्लेख है जिसमें क्रोध कषाय के 10, मानकषाय के 11, माया कषाय के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

17 और लोभ कषाय के 14 नाम सम्मिलित हैं।

समवायांग में विभिन्न जीवों की दृष्टि से अवान्तर कर्म प्रकृतियों की सत्ता का भी निर्देश 4 स्थलों पर आया है। 21वें समवाय में उल्लेख है कि दर्शनमोहत्रिक को क्षय करने वाले निवृत्तिबादर को मोहनीय कर्म की 21 अवान्तर प्रकृतियों की सत्ता रहती है।[88] 26वें समवाय में अभव्य सिद्धिक जीवों को मोहनीय कर्म के 26 कर्मांश प्रकृतियों की सत्ता रहती है।[89] 27वें समवाय में वेदक सम्यक्त्व के बन्ध रहित जीव के मोहनीय कर्म की 27 प्रकृतियों की सत्ता कही गई है।[90] इसी प्रकार 28वें समवाय में यह उल्लिखित है कि कितनेक भव्यसिद्धिक जीवों के मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता होती है।[91]

यद्यपि समवायांग में गुणस्थान पद नहीं आया है परन्तु चौदह जीवस्थान कहकर चौदह गुणस्थान गिना दिये गये हैं। कर्मों की विशुद्धि की गवेषणा करने वाले उपायों की अपेक्षा चौदह जीवस्थान कहे गये हैं।[92] इस प्रकार समवायांग तक भले ही वर्तमान चौदह गुणस्थानों का अस्तित्व आ चुका था पर वे अभी जीवस्थान नाम से जाने जाते थे। विभिन्न आध्यात्मिक विकास वाले जीवों को बँधने वाली कर्म प्रकृतियों का भी उल्लेख समवायांग में मिलता है -- सूक्ष्म सम्पराय भाव में वर्तमान सूक्ष्म सम्पराय भगवान् केवल सत्रह कर्म प्रकृतियों को बाँधते हैं।[93] संक्लिष्ट परिणाम वाले अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) जीव नाम कर्म की 25 उत्तर प्रकृतियों को बाँधते हैं।[94] देवगति, नरकगति को बाँधने वाले जीव द्वारा 28 कर्म प्रकृतियों को बाँधने का भी निर्देश है।[95] इसी क्रम में प्रशस्त अध्यवसाय से युक्त सम्यग्दृष्टि भव्य जीव द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म के अतिरिक्त नाम कर्म की 28 कर्म प्रकृतियों को बाँधकर नियमपूर्वक वैमानिक देवों में उत्पन्न होने का उल्लेख है।[96] समवायांग में आठों मूल प्रकृतियों की अवान्तर प्रकृतियों में से कुछ को समविष्ट कर और कुछ को छोड़कर उनका योग बताया गया है।[97] यद्यपि इसका कर्म-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है। इन पर दृष्टिपात करने से इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि नाम कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म-प्रकृतियों की संख्या नियत हो चुकी थी।

इसके अतिरिक्त मोहनीय कर्म के बन्ध और स्थिति से सम्बन्धित कुछ प्रकीर्ण सूचनायें मिलती हैं। समवायांग में मोहनीय कर्म-बन्ध के तीस कारण गिनाये हैं[98] जिनका निर्देश उत्तराध्ययन[99], आवश्यकसूत्र[100] और दशाश्रुतस्कन्ध[101] में भी मिलता है। छेदसूत्र दशाश्रुत के नवें अध्याय (दशा) में इनका विस्तार से उल्लेख है। समवायांग की प्रस्तावना में श्री मधुकर मुनि ने बताया है कि टीकाकारों के अनुसार मोहनीय शब्द से सामान्य रूप से आठों कर्म और विशेष रूप से मोहनीय कर्म ग्रहण करना चाहिए।[102] तात्पर्य यह है कि मोहनीय कर्म के इंगित कारणों को सामान्य कर्म-बन्ध के कारणों के रूप में भी लिया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समवायांग में अवान्तर प्रकृतियों की दृष्टि से नाम कर्म की 42 उत्तर प्रकृतियों का नाम सहित निर्देश होना, मोहनीय कर्म के 52 नाम, मोहनीय कर्म बन्ध के 30 कारण, जीवस्थानों (गुणस्थानों) की दृष्टि से जीवों को बँधने वाली कर्मप्रकृतियों की सूचना ये कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो कर्म-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं और कर्म-सिद्धान्त के विकासक्रम को द्योतित करती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. पं. दलसुख भाई मालवणिया, "आत्ममीमांसा" - जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस-5, 1953, 95
2. सं. डॉ. तुलसी राम शर्मा - ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1976, 1/2/2
3. डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्र - जैन कर्म सिद्धान्त उद्भव एवं विकास, 65, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5,1993, 6-18
4. मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरंग, 1/2/6/163
   आचारांग - अंगसुत्ताणि प्रथम, मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनू, प्रथम सं. 1974
5. डॉ. परमेष्ठीदास जैन - आचारांगसूत्र एक अध्ययन, पार्श्वनाथ शोधीठ, वाराणसी-5, 1987, 130
6. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे, 1/1/5/93 - आचारांग - मुनि नथमल
7. से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई, 1/1/5 वही।
8. अपरिणाय कम्मे खलु अयं पुरिसे... अणेगरुवाओ जोणीओ संघई, 1/1/1/8, वही,
   एवं
   से हु मुणी परिण्णाय कम्म, 1/1/1/12, वही।
9. कम्मुणा उवाही जायइ, 1/3/1/8/9, वही।
10. अकम्मस्स, 1/3/1/18, वही।
11. णिक्कम्मदंसी, 1/3/2/35, वही।
12. वही, सन्दर्भ 3
13. कम्ममूलं च जं छण, 1/1/3/21, कामेसुगिद्धाणिचयं करोति, 1/1/3/31, वही।
14. मोहेण गब्भं मरणाइ एति, 1/5/1/7, वही।
15. एगया गुण समियस्स रीयता कायसंफास समणुचिण्ससा एगतिया पाणा उददायंति।
    इहलोग-वेयण वेज्जावडियं।। 1/5/4/71-72, वही।
16. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, 1/4/2/134, वही।

16a. सयमेव कडेहिं गाहंति, सं. मधुकर मुनि-सूत्रकृतांग-जैन आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1982, 2/1/4

17. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं तमव आगच्छति सम्पराएं एवं जहांकडं कम्मं तहासिभारे, वही, 5/2/23 एवं 5/1/26
18. सव्वे समयकम्मकप्पिया, वही, 2/3/17
19. वही, 2/3/17 व 2/1/4
20. से जाइजाइं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वइ भिज्जइ तेण वाले।
21. वही, 1/2/26-27
22. वही,
23. वही,
24. वही, 2/21
25. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं। वही, 8/3
26. वही, 8/3
27. दंसणावरणंतए -- वही, 15/1
28. वही, 7/7
29. वही, 8/8

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

29a. वही, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, २ अध्ययन
30. वही, 2/1/6
31. वही, 5/1/8
32. वही, 2/1/15
33. असेसकम्मं विसोहइत्ता अणुत्तरणं परमसिद्धिं, 6/18, वही।
34. सं. महोपाध्याय विनयसागर - ऋषिभाषित - प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 1988, 4/7
35. वही, 4/12,13
36. वही, 4/11, 12, 13 व 9/2-3-4
37. वही, 4/12, 13
38. वही, 9/7
39. वही, क्रमशः 38/8,9, 9/5, 9/7, 31/9
40. वही, 9/9
41. वही, 9/2-3
42. गच्छंति कम्मेहिं -- से सकम्मसित्ते, वही, 2-3, 4/12-13
43. उत्तराध्ययन, सं. मधुकर मुनि - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1984, 13/23-24
44. वही, 4/3
45. वही, 25/41-43
46. वही, 4/3 व 3/10-11
47. वही, क्रमशः 29/31, 17, 9, 22, 3/11, 10/3, 7/9 व 18/49
48. वही, 33/1-18
48a. उत्तराध्ययन, व्यावर
49. वही, 33/1-16
50. वही, 33/17
51. वही, 33/18
52. वही, 25/43
53. सं. मधुकर मुनि - स्थानांगसूत्र - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1981, 2/2/77
54. वही, 2/4/424-431
55. वही, 2/4/431
56. वही, 5/2/9
57. वही, 9/14
58. वही, 9/69
59. वही, 4/4/579
60. वही, 4/4/582
61. वही, 33/15
62. स्थानांगसूत्र, व्यावर, 2/3/265
63. वही, 4/250
64. वही, 4/602-603
65. वही, 2/1/4

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

66. वही,
67. वही, 4/290
68. वही, 2/393
69. वही, 2/394
70. वही, 4/92-94
71. वही, 5/109
72. वही, 3/1/17-18
73. वही, 4/628-31
74. वही, 6/116-118
75. वही, 6/119-123
76. गोम्मटसार (जीवकाण्ड) 5/7 की टीका
77. स्थानांग,
78. वही, 2/75 व 6/43
79. वही,
80. वही, 4/4/581
81. वही, 2/1/4
82. वही, 4/658
83. वही, 83/4/527
84. वही, 4/1/142
85. वही, 4/1/144
86. सं. मधुकर मुनि - समवायांग - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1982, 2/9
87. वही, 52/284
88. वही, 21/145
89. वही, 26/175
90. वही, 27/180
91. वही, 28/187
92. वही, 14/95
93. वही, 17/122
94. वही, 25/169
95. वही, 28/184
96. वही, 29/193
97. वही, 39/238, 52/286, 55/297, 58/303 आदि
98. वही, 30/196
99. उत्तराध्ययन, व्यावर, 31/19
100. सं. मधुकर मुनि आवश्यकसूत्र - आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, 1985, अध्याय 4
101. दशाश्रुतस्कन्ध - अनु. आत्माराम, जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, अध्याय 9, 1936
102. समवायांग - मधुकरमुनि - भूमिका, 34

---

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी-5.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org